आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन

चौधरी चरण सिंह

आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन

चरण सिंह

१९८४

प्रकाशनाधिकार © चरण सिंह

जून २०२२
चरण सिंह अभिलेखागार द्वारा प्रकाशित
www.charansingh.org
info@charansingh.org

मुल्य १९९ रूपये

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन को केवल पूर्व अनुमति के साथ
पुनः प्रस्तुत, वितरित या प्रसारित किया जा सकता है।
अनुमति के लिए कृपया लिखें info@charansingh.org

अक्षर तथा आवरण संयोजन राम दास लाल
आवरण रचना आनन्दो बनर्जी
सौरभ प्रिंटर्स प्राइवेट लिमिटेड, ग्रेटर नोएडा, भारत द्वारा मुद्रित।

परिचय

चौधरी चरण सिंह ने इस पुस्तिका को १९८४ लोक सभा चुनावों से पूर्व लिखा तथा किसान ट्रस्ट के तत्कालीन मैनेजिंग ट्रस्टी स्वर्गीय अजय सिंह ने इसे प्रकाशित करी। पढ़ने के पश्चात आपको स्वयं एहसास होगा की हिंदुस्तान में गिने चुने राजनेता ही इतनी गहरी सोच रखते थे – या हैं। यह पुस्तिका चौधरी साहब के ५० वर्षों के चिंतन को दर्शाती है। हमारी आशा है इस के सहारे पाठक चौधरी साहब की नजर से आजाद हिंदुस्तान की योजनाओं के औचित्य को एक नए दृष्टिकोण से देख सकेंगे और भारत की आर्थिक विकास की सही दिशा जान सकेगा।

चौधरी साहब का मानना था राजनेता के जीवन का बुनियादी ढांचा शुद्ध आचरण और नैतिक मूल्यों पर आधारित तथा सार्वजनिक और निजी जीवन एक समान होना चाहिए। वो कथन और कर्म की एकता में विश्वास रखते थे, राजनीति को धर्म तथा नैतिकता के माध्यम से देखते थे और देश को सम्पन्न तथा समर्थ बनाने की दिशा में गम्भीरतापूर्वक सोचते थे।

चौधरी साहब गांधीवादी विचारक थे, केवल गाओं के समर्थक होने से कहीं आगे। आज जनता चौधरी साहब को 'किसान नेता' कहकर याद करती हैं, परन्तु एक तरह से यह उनकी के लम्बे सार्वजनिक जीवन के व्यापक सोच को नजरअंदाज करता है। वो ऐसी नीतोयों का प्रतिपादन करते थे जो देश में गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक और सामाजिक असमानता, और अभावों के निवारण में सार्थक योग दे और साथ–साथ हमारे बाल लोकतंत्र को मजबूत करे। इन नीतोयों में मूल था कृषि पर आधारित गाओं और देश का व्यापक आर्थिक विकास और गाओं में भूमिहीन समाज और कृषि में अतिरिक्त श्रमिकों के लिए गाओं में स्थित घरेलू, छोटे और लघु उद्योगों में भरपूर रोजगार। वह बड़े उद्योग के खिलाफ नहीं थे, गांधीजी की सोच से प्रभावित चाहते थे देश में ऐसे उद्योग लगें और ऐसी मशीनें कार्य में लायी जाएं जो रोजगार का प्रतिस्थापन न करे। उनकी सोच में इन गांधीवादी नीतियों को अमल में लाने के लिए समाज को विकास का दृष्टिकोण में क्रांति लानी होगी, तथा सरकार की संस्थाओं को इन क्षेत्रों में भरी मात्रा में पूँजी का निवेश करना होगा।

१९४७ की राजनैतिक आजादी से आज तक सारे राजनीतिक दल, राजनेता और अधिकांश बुद्धजीवी – पूंजीवादी समाजवादी और साम्यवादी

– बड़े उद्योग तथा शहरीकरण के समर्थन में रहे हैं। हमें अगर मन की खिड़कियाँ खोलें और दुनिया को गांधीवादी परिप्रेक्ष्य से देखें, ना की किसी विदेशी और अनुपयुक्त दृष्टिकोण से, तो हम जान सकेंगे की २०२२ में भी चौधरी साहब की मूल नीतियां सार्थक हैं और दशकों तक रहेंगी।

हर्ष सिंह लोहित
चरण सिंह अभिलेखागार, दिल्ली

२५ जून २०२२

अनुक्रम

परिचय iii

आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन 1

– कांग्रेस की अनेक विफलताएं 1
– सहकारी खेतीः एक निरर्थक प्रयास 10
– कृषि और उद्योग की प्रकृति तथा स्वभाव में अन्तर 13
– भारत में भूमि–सुधार एक विडम्बना 16
– भूमि का पुनर्वितरण 19
– चंकबदी 21
– सेवा सहकारी समितियां 25

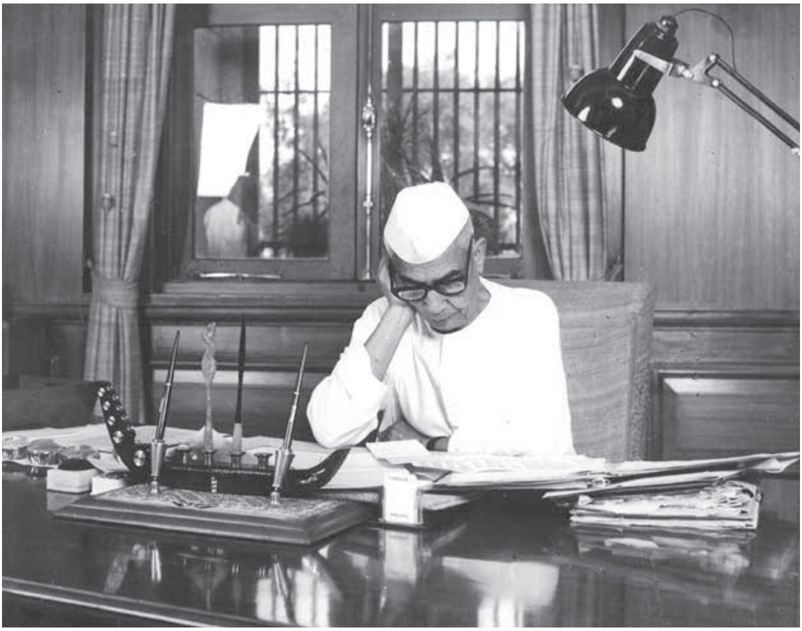

चौधरी चरण सिंह
भारत के प्रधान मंत्री। दिल्लीं, १९७९

आर्थिक विकास के सवाल और बौद्धिक दिवालियापन

भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का अधिकार होने से पहले, भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। यहां धन तथा धान्य की कोई कमी नहीं थी। देश के अनेक शहरों में छोटे–छोटे उद्योग फैले हुए थे। लोग मेहनत से अच्छा माल पैदा करते थे, जिससे देश तथा विदेशों में व्यापार होता था। ढाका में मलमल बुनी जाती थी, नासिक में बर्तन बनाये जाते थे, चटगांव में जहाज बनाने का कारखाना था। आगरा दरियां तथा कालीन और जयपुर रंगीन तथा छपाई के वस्त्रों के लिए विख्यात था। यहां का तैयार माल, एशिया तथा योरोप के कई देशों तक पहुंचता था। भारत अपनी समृद्धि तथा वैभव के लिए दुनिया में मशहूर था। दूसरे देश इसको ईर्ष्या की नजर से देखते थे। विदेशी आक्रमणकारी यहां आते और अरबों की सम्पत्ति लूट कर चले जाते, पर भारत कुछ ही वर्षों में इस हानि को पूरी कर लेता। यहां की जमीन अन्न और सोना उगलती थी यानी किसान, पुराने साधनों से ही, बहुत बड़ी तादाद में खाद्यान्न पैदा करते थे और कारीगर कपड़ों पर इतनी सुन्दर कारीगरी करते थे कि उनके निर्यात–मूल्य से भारत का खजाना भरा रहता था।

मुगल–शासन ने इस्लाम के प्रचार को अपना आधार तो बनाया था पर जनता की खुशहाली को बनाये रखने की जबर्दस्त कोशिशें की थीं। उन्होंने इस देश को अपना देश माना और उसकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक समृद्धि में योग दिया। इसके ठीक उल्टा कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके अंग्रेज मालिकों ने किया। उन्होंने भारत के उद्योगों को नेस्तनाबूद करने के लिए कानून बनाये। यहां के कच्चे माल को इंग्लैण्ड भेजने और वहां बने तैयार माल को भारत में बेचने की नीति अपनाई। यानी भारत को केवल एक मण्डी का दर्जा दिया गया।

कांग्रेस की अनेक विफलताएं

15 अगस्त 1947 को देश का शासन पाने वाली राष्ट्रीय सरकार का यह

दायित्व था कि अंग्रेजी सरकार द्वारा भारत की जमीन पर भारत–विरोधी किये गये कामों को मिटा देती, मसलन भारत के चौपट किये गये उद्योग–धंधों को फिर से जीवित करती, उसके विदेशी–व्यापार को बढ़ावा देती, खेती की पैदावार को बढ़ाती, अंग्रेजों द्वारा विनष्ट भारत की नैतिक परम्परा को पुनर्जीवित करती, राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पाई जाने वाली धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय एकता की भावना को बढ़ाती, दिनों दिन गिरावट की ओर जाने वाले सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना करती और भारत को फिर से सोने की चिड़िया बनाती, अंग्रेजों द्वारा भारत को कमजोर करने वाली भाषा तथा धर्म के विवादों वाली नीति को हमेशा के लिए दफना देती, किन्तु कांग्रेस पार्टी की राष्ट्रीय सरकार ऐसा नहीं कर पाई। वह देश को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने और धार्मिक एकता के एक सूत्र में पिरोने में पूरी तरह असफल हुई है। पिछले दिनों में अलीगढ़, मुरादाबाद, मेरठ, अहमदाबाद तथा भिवण्डी (बम्बई) के साम्प्रदायिक दंगे इस बात के प्रमाण हैं। देश की आर्थिक स्थिति खराब हो गई है, इस बात का संकेत 6 अप्रैल 1984 को लोकसभा में वित्त राज्य मंत्री श्री एम. एम. कृष्ण द्वारा दिये गये वक्तव्य से मिलता है जिसमें कहा गया है कि 1977 से 1984 के बीच भारत पर विदेशी ऋण 110.88 अरब से बढ़कर 190.19 अरब हो गया है। खाद्यान्न की सप्लाई और विकास के लिए धनराशि पर जो देश दूसरों पर निर्भर करता है, उसकी आर्थिक सम्पन्नता संदिग्ध मानी जायेगी। जरूरत इस बात की थी कि इस स्थिति को सुधारा जाता, पर इस आर्थिक विपन्नता के वातावरण में भी केवल विदेशी मेहमानों के सामने, अपनी शान–शौकत का ढिंढोरा पीटने के लिए, इंका सरकार ने पांच सितारे होटलों का तो निर्माण कराया, किन्तु देश के लाखों गांवों की प्यासी जनता के लिए पीने का मीठा पानी जुटाने की आवश्यकता नहीं समझी, खेल–गांव तथा हॉस्टल बनाने पर अरबों रुपये तो खर्च किये, किन्तु दिल्ली में बेघर–बार लोगों के लिए मकान नहीं बनाये, गोआ में विदेशी मेहमानों की खातिरदारी पर करोड़ों रुपये तो खर्च किये, पर विभिन्न राज्यों में समुद्री तूफान–पीड़ित लोगों की पूरी सहायता नहीं की, उसने दिल्ली को सजाने और रोशन करने का प्रयास तो किया, पर गांवों के अंधकार को दूर करने में असफल रही, उन्होंने शहरों को सुन्दर सड़कों से सजाने की ओर तो ध्यान दिया, पर देहात को धूल तथा कीचड़ से छुटकारा दिलाने की कोशिश बिल्कुल नहीं की, उसने विदेशों से खाद्यान्न मंगाने की आत्मघाती नीति तो अपनाई, पर अपने देश के किसानों को सस्ते दरों पर बिजली तथा पानी देकर खाद्यान्नों का फालतू भण्डार बनाने की बात नहीं सोची, उसने विदेशों में अपनी शानदार तस्वीर

बनाने की योजना की, किन्तु देश के दैनिक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार से बिगड़ती हालत को सुधारने की बात को गम्भीरता के साथ कभी नहीं लिया, उसने अनेक आर्डीनेंस पास करके अपने हाथ मजबूत तो किये, किन्तु देश में शांति तथा व्यवस्था की बिगड़ती हालत को नहीं सुधारा, उसने देश में फैली अनैतिकता, अव्यस्था तथा अशांति को रेडियो तथा टी. वी. में भाषणों तथा नीति—वाक्यों के प्रसारण से दूर करने की योजना तो बनाई, किन्तु अपने अनुयायियों में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं की। इसका परिणाम हुआ कथनी और कर्म का अन्तर, कथनी तथा करनी का विरोध। कांग्रेसी नेताओं ने भाषण लोकतंत्र तथा समाजवाद के सिद्धांतों पर दिये, किन्तु देश में सदैव एक दल या एक परिवार का शासन स्थापित करने के भरसक प्रयास किये हैं।

कांग्रेस और बाद में इंका नेतृत्व द्वारा सैद्धांतिक रूप में बातें साम्प्रदायिक एकता की गई, किन्तु स्वयं कांग्रेस द्वारा आम चुनावों में जातिवाद के आधार पर प्रत्याशी चुनने की प्रणाली प्रारम्भ की गई, यानी जिस क्षेत्र में, जिस जाति के मतदाताओं का आधिक्य था, उसी जाति का व्यक्ति अपना प्रत्याशी बनाया गया। यह नीति, केवल जीत और अधिकार को सामने रखकर अपनाई गई, जनतंत्र के सिद्धांत, मानवीय मूल्य, उदात्त सांस्कृतिक मानदण्डों की रक्षा और राष्ट्र के बहुमुखी यथार्थ विकास की दृष्टि से नहीं। जिस देश में, आजादी से पहले, वोट प्रत्याशी की देशभक्ति और राष्ट्रीय हितों के कामों की अधिकता पर मिला करते थे, उस देश में, जाति के आधार पर वोटों का विभाजन और आंकलन होने लगा। स्वाधीन भारत को यह कांग्रेस पार्टी की विशेष देन है। ''जातिवादी कौन'' नामक लघु पुस्तक में, मैं, विस्तार के साथ इस विषय पर प्रकाश डाल चुका हूॅं।

राजनीतिक जीवन में मानवीय मूल्यों की अवहेलना धर्म और नैतिकता के स्थान पर राजनीति को व्यक्ति और दल के फायदे से देखना, यानी व्यवहार में गांधीवादिता के स्थान पर मेकियावलीवाद को अपनाना, कांग्रेस नेतृत्व की देन है। समस्या चाहे बांग्लादेश से आसाम में आये घुसपैठिये शरणार्थियों की रही हो, और चाहे पंजाब में, उग्रवादियों के रूप में घुसे विदेशी जासूसों की, इंका सरकार ने देर से कदम उठाकर, निर्णय सदैव इस दृष्टि से और ऐसे समय लिये हैं ताकि चुनाव के दंगल में उसको अधिक अंक मिलने की सम्भावना हो। ये तथ्य, इंका—नेतृत्व जिसके हाथ में देश का शासन भी है, की नीयत के परिचायक हैं। देश की राजनीतिक परिस्थितियों का निष्पक्ष अध्येता निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि कांग्रेस और इंका के लम्बे शासनकाल में, भारत का आर्थिक उत्कर्ष उस सीमा तक नहीं हुआ, जिस सीमा तक होना चाहिए था। जहां तक व्यक्ति

के नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा का सवाल है, इंका सरकार उसको शून्य की सीमा तक पहुंचाने के लिए उत्तरदायी है।

सच्चाई यह है कि भारत का कांग्रेसी–नेतृत्व देश के आर्थिक विकास के लिए समुचित नीति निर्धारित करने में, यदि आंशिक रूप से असफल हुआ है तो निर्धारित नीतियों को व्यावहारिक रूप देने में, एक बहुत बड़ी सीमा तक, समर्थक रहा है।

अक्टूबर 1954 में पं. जवाहरलाल नेहरू ने चीन की यात्रा की थी। इस यात्रा के दौरान, समाजवादी चीन के विकास को देखकर, भारत में समाजवादी समाज–स्थापना की प्रेरणा उनको मिली। इस बात का संकेत राष्ट्रीय विकास परिषद की तीसरी बैठक में 7 नवम्बर 1954 को कहे गये उनके शब्दों से मिलता है। पं. नेहरू ने अपने समाजवादी स्वप्न को साकार करने के लिए कांग्रेस के आवदी वाले वार्षिक अधिवेशन (1955) में समाजवादी समाज–स्थापना का लक्ष्य तो रखा था, किन्तु उस लक्ष्य को पूरा करने अथवा अपने समाजवादी सपने को साकार रूप प्रदान करने की दिशा में, कोई ठोस कदम नहीं उठाया। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि लोकसभा में पूर्ण बहुमत होने पर भी कांग्रेस–नेतृत्व इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा सका।

कांग्रेस–नेतृत्व की इस असफलता से एक निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि पं. नेहरू और उनकी कांग्रेस के सामने, भारत में समाजवाद स्थापना की स्थिति तक पहुंचने के लिए भारतीय वातावरण के अनुकूल कोई ठोस योजना नहीं थी, जो कुछ था वह विदेशी अनुभवों पर आधारित, विदेशी विशेषज्ञों की सलाह थी। आज, यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो चुकी है कि रूसी अर्थशास्त्री पी. सी. महालेनोविस की सलाह पर पहली पंचवर्षीय योजन में निर्धारित कृषि–विकास का लक्ष्य दूसरी पंचवर्षीय योजना में कम हो गया और सारा बल भारी औद्योगिक विकास पर दे दिया गया। इस प्रकार भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा संसाधन विषयक क्षमता की अवहेलना करके, समाजवादी समाज के विकास का एक अव्यावहारिक रास्ता खोजा गया। यह रास्ता द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निर्धारित लक्ष्यों का था। भारतीय अर्थशास्त्री प्रो. सी. एन. वकील द्वारा, ''मुक्त–उद्यम'' के तत्वावधान में आयोजित 6 जून 1978 की बम्बई वाली बैठक में पं0 नेहरू तथा उनकी नीतियों की आलोचना की गई। इस आलोचना से मेरे मत की पुष्टि होती है।

पं. नेहरू ने विदेशी विशेषज्ञों की सलाह पर देश के औद्योगिक विकास का लक्ष्य, पश्चिम की नकल पर, विशेषतः इंग्लैण्ड और अमेरिका को दृष्टि में रखकर निर्धारित किया, किन्तु उस समय यह तथ्य भुला

दिया गया कि इंग्लैण्ड तथा अमेरिका ने औद्योगिक विकास का लक्ष्य निर्धारित करने से पहले विकास की एक मंजिल पार कर ली थी, यानी कृषि–विकास का लक्ष्य पूरा कर लिया था अथवा यह कहा जा सकता है कि कृषि–उत्पादन की दृष्टि से समृद्धि हासिल कर ली थी। यही नहीं, दूसरे विश्व युद्ध के बाद, कृषि पर निर्भर रहने वाली अपनी जनसंख्या की तादाद घटाने में एवं खाद्यान्न उत्पादन की क्षमता बढ़ाने में अमेरिका समर्थ हो गया था। उदाहरण के लिए सन् 1940 से पहले अमेरिका की खेती पर रहने वाली जनसंख्या 23 प्रतिशत थी, वह घटकर 5 प्रतिशत हो गई। दूसरी ओर खाद्यान्न का उत्पादन छठे, सातवें तथा आठवें दशकों में निरंतर बढ़ता गया। 1979 में, वह 6 अरब डालर से बढ़कर 32 अरब डालर का हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक विकास की नीति अपनाने के बावजूद, खाद्यान्न–उत्पादन की दिशा में अमेरिका ने कभी शिथिलता नहीं आने दी। उसने 4,130 लाख एकड़ भूमि के एक चौथाई भाग में केवल निर्यात के लिए खेती कराने की नीति अपनाई और इस प्रकार खाद्यान्न के निर्यात द्वारा 70 अरब डालर की कमी को पूरा कर लिया, जो विदेशों से तेल मंगाने के कारण हो गई थी।

इस विश्लेषण से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि अमेरिका की सम्पन्नता और समृद्धि का कारण वहां की सरकार द्वारा भली प्रकार सोच–समझ कर बनाई गयी उनकी योजनाएं हैं और भारत की गरीबी, विदेशी ऋण तथा सहायता पर निर्भर रहने का कारण कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा बिना सोचे–समझे भारतीय परिस्थितियों के सर्वथा विपरीत विदेशी विशेषज्ञों की सलाह पर बनाई गयी नीतियां है। पं. नेहरू की सरकार द्वारा औद्योगिक विकास की नीति के फलस्वरूप भारत न तो जापान के समान औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न हुआ और न खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त कर सका। यही नहीं, हमारा देश कर्ज के बोझ से लद गया। यहां विचार करने की बात यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र में भारी उद्योगों के विकास की नीति और कुछ मौजूदा निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के कारण, भारत पर विदेशी कर्ज का बोझ नावाजिब ढंग से बढ़ गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत को राजनीतिक सत्ता सौंपते समय, अंग्रेज रिजर्व बैंक में 1,180 करोड़ रुपये के सिक्के, सोना तथा अन्य कीमती वस्तुएं छोड़कर गये थे। उस समय 1,733 करोड़ रुपये इंग्लैण्ड को देने थे और युद्ध–पूर्व ऋण के भुगतान में 425 करोड़ रुपये की धनराशि और मिलनी थी। इस प्रकार कुल मिलाकर 3,453 करोड़ रुपये की धनराशि हमारे कोष में मौजूद थी। 1951 तक जमा रकम को

खर्च करके भारत 32 करोड़ रुपये का कर्जदार था। कर्ज की यह रकम लगातार बढ़ती गई।

यह सुनिश्चित बात है कि पं. नेहरू के नेतृत्व में अपनाई गयी आर्थिक तथा औद्योगिक नीतियों से भारत ने अर्थ तथा उद्योग के क्षेत्रों में कोई उल्लेखनीय तरक्की नहीं की, बल्कि एक ओर तो देश कर्जदार हुआ और दूसरी ओर देश की पूंजी कुछ लोगों के हाथों में सिमटने लगी। पं. जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं इसका अनुभव किया, स्वयं द्वारा निर्धारित विकास–नीति के खोखलेपन से उनकी देशभक्त आत्मा को अवश्य चोट लगी होगी। यही कारण है कि 11 दिसम्बर 1963 को आपने लोकसभा में स्वीकार किया, ''मैं समझता हूँ कि आर्थिक शक्ति का कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाना, वह चाहे जितने योग्य और अच्छे क्यों न हो, अत्यधिक आपत्तिजनक है और इसे रोका जाना चाहिए।'' पं. नेहरू के ये शब्द एक ओर तो उनके चिंतन की ईमानदारी के प्रतीक हैं और दूसरी ओर नीतियों को व्यावहारिक रूप देने की उनकी असफलता के। इसका यह मतलब नहीं कि पं. नेहरू की नीति अथवा चिंतन दिशा पर संदेह किया जाए। वह सच्चे दिल से देश के विकास के विषय में सोचते थे, यह दूसरी बात है कि वह अपने चिंतन को सार्थक दिशा दे पाने में भूल कर गये।

पं. नेहरू के चिंतन की ईमानदारी इस बात से भी जाहिर होती है कि 8 नवम्बर 1963 को दिल्ली में हुई राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक का उद्‌घाटन करते हुए आपने कृषि के मुकाबले में भारी उद्योगों के विकास की अपनी नीति की भूल को स्वीकार करते हुए कहा था ''किसी अन्य वस्तु की तुलना में कृषि महत्वपूर्ण है, और उसमें कारखाने भी शामिल हैं क्योंकि कृषि–उत्पादन ही तमाम आर्थिक प्रगति की गति को निर्धारित करता है, कृषि ही प्रगति का आधार तैयार करती है। यदि हम कृषि में असफल होते हैं तो हम उद्योगों में भी सफल नहीं होंगे। मैं इस बात पर इसलिए जोर दे रहा हूँ क्योंकि बावजूद इसके कि वृद्धि पर बल दिया जाता है, मुझे लगता है कि कृषि को प्रायः रोजमर्रा की बात समझ लिया जाता है जिसके लिए कार्यकुशल मंत्री की जरूरत नहीं है, कृषि उद्योग की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है, इसका सीधा–सादा कारण यह है कि उद्योग कृषि पर निर्भर होते हैं। उद्योग निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण हैं लेकिन उनकी प्रगति तब तक नहीं हो सकती जब जक कि कृषि ठोस, स्थायी और प्रगतिशील न हो।''

ये शब्द पं. नेहरू की बदली हुई मानसिक स्थिति के प्रमाण हैं। दुर्भाग्य यह है कि अपनी बदली हुई कृषि–प्रधान नीति को व्यावहारिक

रूप देने के लिए वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रहे। 27 मई 1964 को क्रूर काल ने उनको हमसे छीन लिया। उनके बाद, इंका सरकार और उनकी बेटी, श्रीमती इंदिरा गांधी, जो देश की प्रधानमंत्री तथा कांग्रेस की अध्यक्ष थीं, का दायित्व था कि अपने स्वर्गीय पिता के अधूरे कार्य को पूरा करतीं। जिसके पूरा होने पर देश खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्मनिर्भर बनता, कुछ फालतू खाद्यान्न के निर्यात से विदेशी कर्जे से छुटकारा पाता, भारी उद्योगों के घाटे जो लगभग अट्ठाईस करोड़ रुपये का हो गया है, से छोटे–छोटे उद्योगों के विकास द्वारा मुक्ति पाता, लघु उद्योगों के विकास से बेरोजगारी की समस्या को हल करता और देश की अर्थव्यवस्था ठीक करता, किन्तु श्रीमती गांधी ने इतिहास और अतीत से कुछ सीखना नहीं चाहा, यहां तक कि उन्होंने अपने पूज्य पिता के समान अपनी गलतियों को स्वीकार करने का साहस भी कभी नहीं दिखाया अथवा वह समझती रही कि उन्होंने कोई गलती नहीं की और उनके नेतृत्व में देश निरन्तर तरक्की कर रहा है। जो कुछ भी हो, तथ्य और आंकड़े इसके विपरीत हैं और इनसे कांग्रेसी–राज्य में हुई भारत की तरक्की के संकेत नहीं मिलते।

एक्सप्रेस मैगजीन 10 मई 1984 में प्रकाशित तथ्यों के आधार पर, सन 1971 की जनगणना के अनुसार, अकेले बम्बई में लगभग 31,133 परिवारों के पास सिर छुपाने के लिए झोपड़ी तक नहीं है। 1977 के अंत तक यह संख्या 50,000 हो गई है और 1984 तक 100,000 हो जायेगी। इसके अलावा 77.4 प्रतिशत परिवार ग्रेटर बम्बई में एक कमरे के मकान में रहते हैं और इससे भी भयंकर स्थिति यह है कि लगभग 88,349 परिवार शिफ्ट सिस्टम में यानी कुछ समय तक एक परिवार और कुछ समय बाद दूसरा परिवार उसी कमरे में रहता है। सन् 1976 में सरकार ने बम्बई की गंदी बस्तियों का सर्वे किया था, इसके अनुसार बम्बई महानगर में 1,991 गंदी बस्तियां थीं, जिनमें 5,76,900 परिवार रहते थे। यह संख्या 1982 से लगभग सात लाख और 1984 में 7.5 लाख से अधिक हो गई होगी। सर्वे रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक गंदी बस्ती अपराध और अपराधियों के लिए मल–कुण्ड बन गई है, इस स्थिति से, क्या विश्वास किया जा सकता है कि कांग्रेसी–राज्य भारत को समाजवाद की ओर ले गया है?

जिस देश के बम्बई शहर में एक ओर आलीशान महल खड़े हों, उनमें रहने वाले लोग थोड़े हों और दूसरी ओर हजारों परिवार सड़कों के किनारे जिंदगी गुजारते हों, जिस देश में पांच सितारा होटलों में एक रात रहने के लिए हजारों रुपये खर्च करने वाले पैसे वाले लोग हों, उसी देश में 120,93 मिलियन (लगभग 12 करोड़ 90 लाख) लोग देहाती क्षेत्र में और 14.83 मिलियन (लगभग एक करोड़ 48 लाख) शहरी क्षेत्र में अपने ऊपर

लगभग एक रुपया से अधिक खर्च करने की स्थिति में न हों, उस देश के विकास को समाजवादी विकास के साथ जोड़ना कहां तक सही है? देश की इस गरीबी के लिए निश्चित ही कांग्रेस–नेतृत्व उत्तरदायी है, जिसकी कथनी और करनी में अन्तर है और योजनाएं अनेक विरोधाभाषों के कारण विडम्बना बन गई हैं। दुर्भाग्य है कि इसकी जिम्मेदारी भी इंका–नेतृत्व विरोधी दलों पर डालने की स्थिति में नहीं है।

कांग्रेस के लम्बे शासन के दौरान एक ओर तो देश का आम आदमी गरीब हुआ है, उसकी क्रय–शक्ति घटी है, देश में शिक्षित और अशिक्षित वर्ग में बेरोजगारी फैली है, रोजमर्रा प्रयोग आने वाली चीजों की कीमतें तिगुनी बढ़ गई हैंय दूसरी ओर चंद लोगों की पूंजी कई गुना अधिक हो गई है। यह सब इस लिए हुआ कि पं. नेहरू ने देश के आर्थिक विकास का गांधीवादी विरोधी रास्ता चुना। उनको जब अपनी भूल का एहसास हुआ, तो भूल–सुधार का समय उनके पास न था। उनके उत्तराधिकारी और उनकी सुयोग्य पुत्री के पास लम्बा समय था कि अपने पिता के अधूरे स्वप्न को पूरा करतीं, किन्तु उनके सामने पिताजी के अधूरे राष्ट्रीय एवं मानवीय स्वप्नों के पूरा करने की अपेक्षा अपने सपनों को पूरा करने की चिंता हमेशा रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ख्याति और सत्ता पर सदैव अधिकार उनके दो महान स्वप्न रहे थे। इनकी पूर्ति की योजना में देश और समाज की आर्थिक उन्नति का सवाल हमेशा पीछे पड़ता गया था। मेरी धारणा है कि भारत की वर्तमान दुर्दशा, पतन, राजनीतिक बिखराव और गरीबों के लिए केवल नेहरू परिवार सर्वाधिक उत्तरदायी है।

गांधी जी देश की आर्थिक उन्नति का रास्ता कुटीर उद्योगों के विकास, देश की मानव शक्ति के प्रयोग, यानी देश के अरबों हाथों के इस्तेमाल, छोटी इकाइयां द्वारा विकेन्द्रित उत्पादन और ग्रामों के उद्योगों को बढ़ाने वाले औद्योगीकरण में देखते थे। इसके विपरीत, पं0 नेहरू ने भारी उद्योगों के विकास की योजनाएं बनाई। उन्होंने अमेरिका तथा रूस के आर्थिक विकास के इतिहास को समझे बिना ही विदेशी सलाहकारों की सलाहें मान लीं। जब रूसी तथा चीनी नेताओं ने औद्योगीकरण से पहले कृषि–विकास के महत्व पर जोर दिया, तो उनको अपना मत बदलने की आवश्यकता महसूस हुई, किन्तु तब तक देश आर्थिक विकास के गलत रास्ते पर इतना आगे बढ़ गया था कि उसका लौटाया जाना अपने स्वार्थों में डूबे दिमागी और ईमानदार प्रशासन के क्षेत्र में कमजोर हाथों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता था।

''पायनियर'' (लखनऊ) 24 जनवरी 1961 के आधार पर कहा जा

सकता है कि निकेता खुश्चेव ने पार्टी की सेन्ट्रल मीटिंग में स्टील आदि उद्योगों के उत्पादन के मुकाबले में ज्यादा अन्न पैदा करने की नीति का समर्थन किया और माओ ने 1958 में कृषि को प्राथमिकता देने की बात कही थी जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र के नोबल पुरस्कार विजेता वैसली लीयोनटीफ ने चीन–यात्रा के बाद 'एटलांटिक मंथली'' के लेख में किया है।

महात्मा गांधी का कथन है ''मिलों और शहरों की संख्या में वृद्धि वस्तुतः भारत की समृद्धि में योगदान न करेगी।'' हम देखते हैं कि गांधी जी, निकेता खुश्चेव और माओ देश की समृद्धि का रास्ता खेती की उन्नति में देखते हैं। किन्तु गांधी जी के राजनीतिक उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने देश की उन्नति भारी उद्योगों के विकास में देखी। उनकी इस गलत नीति के कारण देश को एक ओर तो कर्जदार होना पड़ा है और दूसरी ओर अपनी आबादी का पेट भरने के लिए दूसरे देशों से मंगाये गये अन्न पर निर्भर रहना पड़ा। डा. बलजीत सिंह (लखनऊ विश्वविद्यालय) ने अपनी पुस्तक ''उत्तर प्रदेश के अन्तर–जिला आय और आर्थिक पक्ष'' 1974 में एक खास नतीजा यह निकाला है कि लखनऊ तथा देहरादून जिलों के उद्योगों की अपेक्षा मेरठ जिला कृषि–विकास के बल पर निर्यात–उद्योग को बढ़ाने में अधिक समर्थ हुआ है। डा. एल्मेर पैडेल भी ''पापूलेशन आफ द लूज'' (1951, पृष्ठ 34) पर उद्योगों की अपेक्षा अधिक खाद्यान्न उत्पादन की वकालत करता है, लेकिन दुःख इस बात का है कि दुनिया के राजनीतिक नेताओं तथा अर्थशास्त्रियो के सुझावों से न तो नेहरू जी ने कुछ सीखने की दिशा में प्रयास किया और न उनके उत्तराधिकारी ही कर रहे हैं। यही कारण है कि भारत में आज भी कृषि उतनी उपेक्षित, अविकसित और गैर–मुनाफे का धंधा बनी हुई है जितनी कि अंग्रेजों के समय बनी हुई थी।

एक देश की अच्छी अर्थ–व्यवस्था के आम तौर पर चार उद्देश्य होते हैं – पहला ज्यादा से ज्यादा धन इकट्ठा करके गरीबी दूर करना, दूसरा देश में मौजूदा बेरोजगारी को दूर करने के उद्देश्य से रोजगार के साधन मुहैया कराना, तीसरा नागरिकों की आमदनी के फर्क को कम करके पूंजी का उचित वितरण करना और चौथा व्यक्तिगत सुरक्षा की गारंटी तथा लोकतंत्र को प्रोत्साहन देना। संसार का प्रायः प्रत्येक अर्थशास्त्री भारत के कांग्रेसी–नेताओं के विपरीत यह मानता है कि देश की आर्थिक व्यवस्था की मजबूती तथा बहबूदी की जड़ें कृषि की उन्नति पर निर्भर करती हैं, खेद है कि लोकतंत्र और प्रगतिशीलता की दुहाई देने वाली कांग्रेसी सरकार ने सच्चाई को न समझ कर भारत

की जनता के साथ घोर अन्याय किया है और एक सीमा तक देश का बहुत अधिक अहित भी।

सहकारी खेती: एक निरर्थक प्रयास

हमारे देश के अनेक राजनीतिक पुरुषों, विचारकों, अर्थशास्त्रियों और कांग्रेस–नेतृत्व के कर्णधार पं. जवाहरलाल नेहरू तक ने मार्क्स के सहकारी खेती सम्ब्धी विचार को सही सन्दर्भों में समझे बिना भारत में सहकारी खेती की बात करनी प्रारम्भ की थी। पं. नेहरू की इच्छा को जानकर दूसरी पंचवर्षीय योजना में कहा गया, ''दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में मुख्य कार्य ऐसे सभी आवश्यक कदम उठाना होगा ताकि सहकारी खेती के विकास के लिए ठोस भूमि के टुकड़ों को एकत्र करना और संयुक्त प्रबंध करना निहित है। फिर भी विकास की इस अवस्था में काफी शिथिलता इस प्रकार आवश्यक है कि भूमि के अलग–अलग टुकड़ों को चकबंदी से एकत्र किया जाये और उनमें सहकारी यूनिटों द्वारा खेती की जाए।'' इसका मतलब था कि पहले भूमि की चकबंदी कराई जाये और उन चकों के मालिक किसानों को सहकारी खेती करने के लिए विवश किया जाये।

सहकारी खेती के समर्थकों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनवरी 1959 के नागपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पेश किया कि देश भर में सहकारी खेती शुरू की जाये। पं. नेहरू की नीति का विरोध, भले ही वह देश के हित में न हो, करने का साहस किसी कांग्रेसी कार्यकर्ता एवं नेता में नहीं था। ऐसा करने के अनेक भयंकर परिणाम हो सकते थे। मैंने अपने राजनीतिक भविष्य के अंधकार की चिंता न करते हुए इस प्रस्ताव का विरोध किया था। मैं उस समय उत्तर प्रदेश सरकार में राजस्व विभाग का मंत्री था। मैं आज भी मानता हूॅ कि देश में सहकारी खेती लागू करने वाला प्रस्ताव देश के लिए हितकर नहीं था।

देश के तथाकथित प्रगतिशील विचारकों और मार्क्सवादी चिंतकों ने मुझे प्रगतिशीलता विरोधी और प्रतिक्रियावादी तक कहा। लेकिन आज सिद्ध हो गया है कि मेरा मत देश के हित में था और मेरे तथाकथित प्रगतिशील आलोचकों का देश के अहित मेंय मैं कृषि–विकास के माध्यम से देश के आर्थिक–उत्कर्ष की बात सोच रहा था और मेरे आलोचक राष्ट्री–हित की उपेक्षा करके केवल मार्क्सवादी का ढोल पीट रहे थे और वह भी गलत ताल तथा स्वर में। इस सम्बंध में आज मेरा पहला तर्क तो यह है कि यदि सहकारी खेती देश के लिए उपयोगी थी तो स्वयं पं. नेहरू ने नागपुर सत्र के 15 माह से कम समय में ही सहकारी खेती

जैसे सम्भाव्य प्रस्ताव को छोड़ क्यों दिया? 27 मार्च 1960 को अखिल भारतीय वाणिज्य और व्यापार चौम्बर के कलकत्ता अधिवेशन में नेहरू जी द्वारा अभिव्यक्त विचार मेरे तर्क का समर्थन करते हैं। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने, दूसरे ही दिन, पंडित जी के वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था ''श्री नेहरू ने अभी हाल ही में संयुक्त कृषि के सम्बंध में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इस विषय पर उनके पूर्व विचारों से भिन्न हैं।''

नेहरू जी ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि सहकारी खेती का प्रश्न एक विवादास्पद विषय है। इसको एक आदर्श के रूप में भले ही मान लिया जाये, पर इसका कार्यान्वयन कई परिस्थितियों पर आधारित है, जिनमें एक जनता की सहमति है।

इस वक्तव्य द्वारा नेहरू जी ने पुनः अपनी भूल को स्वीकार करके एक सही चिंतन की दिशा को अंगीकार कर लिया, किन्तु तथाकथित प्रगतिशील मार्क्सवादी, मार्क्स के सहकारी खेती सम्बंधी विचारों के सन्दर्भों को समझे बिना मुझे घोर प्रतिक्रियावादी कहकर कोसते रहे हैं और आज भी कभी–कभी उनकी आवाज सुनाई पड़ने लगती है।

यहां आवश्यक है कि उनके चिंतन के औचित्य तथा अनौचित्य को समझ लिया जाये और यह निश्चय कर लिया जाये कि देश–हित के करीब कौन था, मैं अथवा मेरे आलोचक।

मार्क्स की दृष्टि में सामान्यतः जनकल्याण के लिए बड़े पैमाने पर सामूहिक उत्पादन विकास की पहली शर्त थी। यह शर्त उद्योग के क्षेत्र में आवश्यक अनुभव की गई। सामूहिक विकास की पद्धति में उद्योगों पर चंद लोगों के पूंजीगत अधिकार का भय नहीं रहता, अतः सामूहिक उत्पादन का सिद्धांत उद्योग के क्षेत्र में तो राष्ट्र तथा जन के लिए कल्याणकारी ठहरता है। मार्क्स का यह निकर्ष योरोप में होने वाले पूंजीवादी औद्योगिक विकास तथा मजदूरों के शोषण की स्थिति में उपयोगी था। जहां तक खेती और किसान का प्रश्न है, मार्क्स ने अनुभव किया था कि छोटी–छोटी जोतों वाले किसान यदि किसान ही बने रहे तो वे मिट जायेंगे। क्योंकि उसकी दृष्टि में न तो किसान और न उसकी कार्य–पद्धति समय के अनुरूप थी और समाज का विकास उन दोनों के निगलने के लिए तैयारी कर रहा था। उनका यह अनुभव मूलतः आयरलैण्ड के किसानों पर आधारित था। अस्तु, उन्होंने असंख्य मजदूरों द्वारा वैज्ञानिक तरीके से खेती करने की बात कह दी। इनके पीछे केवल विचार यह था कि भूमि को कुछ भू–स्वामियों के अधिकार में केन्द्रित न होने दिया जाये और न भूमि को छोटी–छोटी अलाभकारी जोतों में बंटने दिया जाये। मार्क्स का यह विचार नितांत वैज्ञानिक, उपयोगी और तर्कसंगत था। मैं अनेक स्थानों

पर यह बात कह चुका हूँ कि भारत में एक ओर तो भू–स्वामियों द्वारा बड़े–बड़े फार्म स्थापित किये जा रहे हैं और दूसरी ओर सरकार केवल प्रचार के लिए अलाभकारी छोटे–छोटे भूमिखंड भूमिहीन लोगों को बांट रही है। ये दोनों स्थितियां राष्ट्र एवं समाज के लिए उसी प्रकार अहितकर हैं जैसे सामूहिक खेती की योजना अहितकर थी।

हमारा नेतृत्व अंधानुकरण करता रहा है। उसने दूसरे देशों के अनुभव एवं इतिहास से बहुत कम शिक्षा ली है। डेविड मित्रेनी ने 1895 ई. की जर्मन जनसंख्या की गणना के आधार पर सिद्ध किया है कि किसान मिट नहीं रहा है और वहां 2 से 20 हेक्टेयर की जोतें 1.26 प्रतिशत बढ़ गई हैं। 1907 की जनगणना के आधार पर यह बताता है कि पूंजी पर आधारित कलाभों के बावजूद शासन ने बड़ी–बड़ी भू–सम्पत्तियां कम कर दी। अन्य महाद्वीपों तथा हौलैण्ड आदि में भी ऐसा ही हुआ। स्वयं रूस में भी सहकारी खेती का भविष्य शीघ्र ही अलाभकारी तथा अनुपयोगी बन गया था। इस सम्बंध में स्टालिन की मान्यता का आगे जिक्र किया गया है।

आश्चर्य की बात यह है कि विदेशों के उस अनुभव को अनदेखा करके भारत में सहकारी खेती की वकालत की गई, उस पर दिमाग एवं धन का व्यय किया गया और मेरे जैसे लोगों ने जब देश के लिए खेती की नितांत सामयिक तथा लाभकारी योजना सामने रखी तो उसका विरोध किया गया। अब आप ही निर्णय कीजिए कि क्या मेरे विरोधी देश के हितैषी थे और उनकी सहकारी खेती की बात क्या वास्तव में प्रगतिशील थी?

सामूहिक अथवा सहकारी खेती के विषय में एक बात जाननी आवश्यक है। भिन्न रुचि तथा प्रकृति के लोग एक स्थान पर इकट्ठे होकर तब तक शक्ति नहीं बन पाते जब तक कि सामूहिक आदर्शों के साथ प्रतिबद्ध नहीं हो जाते, अतः सामूहिक खेती से पहले सहकारी आदर्शों से व्यक्ति को परिचालित करना आवश्यक है, दूसरे एक इकाई के रूप में काम करने पर आदमी की दिलचस्पी, हर्ष–उल्लास, प्रलोभन तथा प्रेरणा मिट जाती है, जिसके अभाव में अलगाववादी चेतना जन्म ले लेती है, इन्हीं कारणों से भारत तथा इजरायल के कई सहकारी फार्म खत्म हो चुके हैं। नेहरू स्वयं अपनी भूल को स्वीकार कर चुके थे, फिर भी साम्यवादी प्रभाव के परिणामस्वरूप जब तब सहकारी खेती की बात उठती रही, फलतः देश का समय बर्बाद होता रहा। केरल की सी. पी. आई. सरकार द्वारा शुरू किया गया सहकारी फार्म अपने जीवन के सातवें वर्ष में ही लड़खड़ा गया और इलीथैड के फार्म को 246 कामगारों में बांट दिया गया। यूजीन ल्यौन्स अपनी ''वर्कर्स पैराडाइज लोस्ट'' में रूसी सामूहिक कृषि के

दिवालियेपन का वर्णन कर चुका है। स्टालिन ने चर्चिल से अपनी वार्ता के बीच स्वीकार किया था कि सहकारी खेती के संदर्भ में द्वितीय विश्व युद्ध की अपेक्षा अधिक रूसी किसानों की जानें गईं। मजदूरों की तरह किसानों को भी गारंटी देने, न्यूनतम मजदूरी देने और आधारभूत सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए सातवें दशक में बजट में 17.6 की वृद्धि करनी पड़ी, यह रकम बढ़ती रही पर देश को विशेष उपलब्धि नहीं हुई। यूक्रेन का किसान सामूहिक फार्म पर वर्ष में 180 दिन और जार्जिया का 135 दिन काम करता है, बाकी दिन अपने निजी प्लाटों पर। मास्को पत्रिका ''प्राब्लम्स आफ इकोनामिक्स'' में कहा गया कि 1975 में उपलब्ध ट्रैक्टरों को बेकार खड़े रखने की बजाए काम पर लाया गया होता तो देश को प्रतिवर्ष 200 लाख टन अधिक अनाज मिलता।

''रीडर्स डाइजेस्ट'' जून 1973 में एडवर्ड हग्ज ने रूसी सामूहिक फार्मों पर अन्न, साग–सब्जी तथा यंत्रों की बर्बादी तथा बेकदरी की तस्वीर पेश की है। रूसी तथा चीनी सहकारी फार्मों की प्रति एकड़ पैदावार जापान तथा पश्चिमी राष्ट्रों में निजी खेती की प्रति एकड़ पैदावारी से कम है। एक रूसी किसान औसतन 10 आदमियों के लिए भोजन कमाता है और अमेरिका का 75 आदमियों के लिए। यही कारण है कि 1972 में मास्को को फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रेलिया और कनाड़ा से लगभग 912.5 करोड़ रुपये और अमेरिका से 547.5 करोड़ रुपये मूल्य का अनाज मंगाना पड़ा। अप्रैल 1976 तक रूस ने कृषि वर्ष 1975–76 में अमेरिका से 176 लाख टन खाद्यान्न खरीदा और 1981 तक 160 लाख टन गेहूँ तथा मक्का खरीदने का करार किया। 9 अगस्त 1980 का ''हिन्दुस्तान टाइम्स'' दोनों देशों के खाद्यान करार सम्बंधी बातचीत पर रोशनी डालता है।

इससे यह नतीजा निकलता है कि सहकारी फार्म की योजना, किसी व्यक्ति विशेष अथवा दल विशेष अथवा विचारधारा विशेष के अहम को तो संतुष्ट कर सकती है, किन्तु देश की खाद्यान समस्या का हल नहीं निकाल सकती। जब रूस जैसे प्रतिष्ठित साम्यवादी देश में सहकारी खेती की योजना सफल नहीं हुई, तो भारत में सफल कैसे हो जाती? रूस में असफलत हुई सहकारी खेती के उदहारण से एक नतीजा यह निकलता है कि पं. नेहरू और उनके तथाकथित प्रगतिशील समर्थकों द्वारा सहकारी खेती के विकास की दिशा में जितना चिंतन तथा आयोजन किया गया था वह एक राष्ट्रीय अपव्यय मात्र था।

कृषि और उद्योग की प्रकृति तथा स्वभाव में अन्तर

कृषि और उद्योग की प्रकृति में जमीन और आसमान का अन्तर है।

उद्योग की सफलता प्रति व्यक्ति उत्पादन की अधिकता पर निर्भर होती है और कृषि की प्रति एकड़, अर्थात कारखाने में देखा यह जाता है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक हो, किन्तु खेती में प्रति व्यक्ति उत्पादन की अधिक मात्रा न देखकर प्रति एकड़ उत्पादन की अधिकता देखी जाती है (डब्ल्यू. जे. इस्पिलमैन, ''ह्रासमान प्रतिफल नियम, पृष्ठ 43) मेरी बात का समर्थन करता है। हमारे देश में भूमि एक सीमित कारक है, अतः हमें कृषि को उद्योग न मानकर उसमें प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने का लक्ष्य रखना चाहिए। यह बात समझने की है कि बड़ी–बड़ी मशीनों तथा बड़े फार्मों पर छोटे–छोटे यंत्रों तथा छोटे–छोटे फार्मों की समता में अधिक उत्पादन नहीं होता, यदि ऐसा होता तो जापान की अपेक्षा अमेरिका तथा रूस में अधिक उत्पादन होना चाहिए था, किन्तु बात बिल्कुल इसकी उल्टी है। जापान में खेती करने वाले परिवार के पास औसत कृषि योग्य जोत तीन एकड़ से भी कम है, किन्तु उसकी प्रति यूनिट का उत्पादन इंग्लेण्ड की अपेक्षा चार गुना, अमेरिका की अपेक्षा दस गुना और रूस के मुकाबले में सोलह गुना ज्यादा है।

जॉन लोस्सिंग बक द्वारा ''लैण्ड यूटीलाइजेशन इन चाइना'' (1937) नामक पुस्तक में किये गये विश्लेषण से पता लगता है कि अगर एक आदमी के पास 2.6 एकड़ से कम जमीन है तो प्रति एकड़ उत्पादन कम होगा, इसलिए मेरा सुझाव है कि जमीन को टुकड़े होने से तो बचाया जाए, किन्तु जमीन के साथ आदमी के व्यक्तिगत लगाव को समाप्त न होने दिया जाए। यदि 100 एकड़ के फार्म को 2.5 एकड़ वाले चालीस फार्मों में बांट दिया जाए तो राष्ट्रीयकृत व्यवस्था की अपेक्षा पूंजी की लागत कम होगी और पैदावार अधिक।

पैदावार की अधिकता के अलावा, छोटे फार्म के पक्ष में, एक दूसरी दलील भी है और वह है देश के लाखों बेरोजगारों को काम पर लगाना, कृषि की बढ़ी हुई आमदनी से बहुतों को फायदा मिलना, कृषितर धंधों का अधिक विकसित होना, इन धंधों में माल तैयार कने के लिए अधिक कामगारों का लगना, जोतने, गाहने, बोने तथा सिंचाई आदि की मशीनें बनाने के कार्यों पर ज्यादा लोगों का लगना और इस तरह बेरोजगारों की संख्या घटना। निष्कर्ष यह है कि बड़ी–बड़ी मशीनों से बड़े–बड़े फार्मों पर खेती करने की बजाए, छोटे–छोटे फार्मों पर, छोटी–छोटी मशीनों से खेती करना, सब प्रकार से लाभदायक है। महात्मा गांधी की बात हमारे मत का समर्थन करती है ''यंत्रीकरण अच्छा है जब किये जाने वाले कार्य को पूरा करने के लिए मजदूर कम हों।''(मानव बनाम मशीन, 'हरिजन', 16 नवम्बर 1934, पृष्ठ 316)

मैं किसानों द्वारा मशीनों के प्रयोग का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन उन्हीं छोटी–छोटी मशीनों के इस्तेमाल का समर्थन करता हूँ, जो किसान को पैदावार बढ़ाने में मदद देती हैं, उसकी थकान तथा मेहनत को कम करती हैं, पशुओं पर उसकी अधिक निर्भरता को घटाती है, प्रकृति के प्रकोप से उसकी पैदावार को बचाने में सहायता देती हैं, उसकी स्वतंत्रता नहीं छीनतीं तथा उसके अपने अस्तित्व के लिए खतरा नहीं बनतीं। ऐसी मशीन का प्रयोग उसके लिए अधिक फायदेमंद होगा जो उसके आदेश पर चलती हो, उसके चलाने के लिए किसी और से आदेश लेने की जरूरत न पड़ती हो। मेरी समझ में किसान का स्वामित्व, यानी अपनी जमीन पर उसका अधिकार, लोतंत्र के बड़े बचाव का साधन है।

हमारे लोकतंत्र के वर्तमान ढांचे में, अर्थव्यवस्था की बहबूदी की दृष्टि से छोटे–छोटे फार्मों का होना ही ज्यादा फायदे का है। हमारे देश का, यह दुःखद पहलू है कि यहां जमीन की कमी है और जमीन पर निर्भर करने वालों की संख्या अधिक है, यदि इसको काम देने के लिए लघु उद्योगों का विकास नहीं किया जाता तो भविष्य में यह संख्या अधि ाक बढ़ सकती है। सन् 1970–71 की भारत की कृषि जनसंख्या की गणना के आधार पर उन सीमान्त जोतों को छोड़कर जो कुल जोतों का 50–60 प्रतिशत है और उनमें से प्रत्येक जोत का रकबा एक हेक्टेयर से भी कम है, शेष 3,48,11,000 जोतें रह जाती हैं और उनको छोटी जोतों (1.0–2.0 हेक्टेयर) के वर्ग में गिना जाता है। अर्द्ध–माध्यमिक (2.0–4.0 हेक्टेयर), माध्यमिक (4.00–10.0 हेक्टेयर) और बड़ी (10.0 तथा इससे अधिक हेक्टेयर) जोतों ने कुल 1,47,579.00 हेक्टेयर क्षेत्रफल अर्थात 4.24 हेक्टेयर रकबा या औसतन 10.0 एकड़ रकबा रखा है। इसलिए वर्तमान दशा में अगर हम सधन खेती करना भी चाहें तो कर नहीं सकते। ऐसा करना आत्मघात के समान होगा। अल्प जनसंख्या वाले देश ही इस ओर सोच सकते हैं। भारत जैसे आबादी वाले देशों को छोटे–छोटे फार्मों पर खेती करना ही लाभदायक हो सकता है। सामूहिक या सहकारी खेती के पक्षपाती, कांग्रेसी राजनीतिज्ञ देश की अर्थव्यवस्था को एक बड़ी ठोकर देने के बाद अपनी गलती को समझने लगे हैं। काश! यदि उन्होंने कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के समय यह समझा लिया होता, जब स्वर्गीय नेहरू और उनकी कांग्रेस सहकारी खेती का राग अलाप रही थी और मैं अकेला उसका विरोध कर रहा था, तो देश को गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण महामारी और विदेशी ऋण की भयंकरता के दिन न देखने पड़ते और आजादी की लड़ाई में परिवार, दौलत और शारीरिक शक्ति की आहुति देने वाले स्वतंत्रता सेनानियों को भी आजादी का आनन्द मिल

गया होता। उनको यह न कहना पड़ता कि क्या हमने भाई–भतीजावाद, बेईमानी, बेकारी और भ्रष्टाचार के लिए ही विदेशी शासन की क्रूरताओं को सहन किया था? उनको आजादी के तीन दशक बाद भी पश्चाताप तथा आत्मग्लानि के ताप से न जलना पड़ता।

भारत में भूमि–सुधार एक विडम्बना

डब्ल्यू. ए. लैंडजिन्स्की भूमि सुधार और कृषि के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान हैं। आपने ''टेन्युरियल कंडीशन्स इन द पैकेज डिस्ट्रिक्ट्स 1963'' नामक रिपोर्ट योजना आयोग को पेश करते हुए कहा था ''अभी तक उत्तर प्रदेश को छोड़कर देश के अन्य भागों में किसानों को अपने हल से जोतने वाली जमीन का मालिक नहीं बनाया गया।''[1] लैंडजिन्स्की तथा बम्बई एवं हैदराबाद में बने भूमि–सुधार के कानूनों पर लिखी गई क्रमशः बी. एम. दांडेकर और सी. जे. खुदानदार एवं एम. एन. खुसरू की रिपोर्ट्स से जाहिर होता है कि इन कानूनों से देश के किसानों को काई लाभ नहीं हुआ। जोतने वाले किसानों को जमीन का मालिक बनाने वाले कानून के अभाव में अनेक स्थानों पर जमीदारों ने खेतों से बेदखल कर दिया और कई राज्यों में तो मंत्रियों तक ने, जो पहले बड़ी जोत के मालिक नहीं थे, बड़ी हिकमतों से बड़ी–बड़ी जोते प्राप्त कर लीं। भारत सरकार ने राज्य सरकारों को ऐसे कानून बनाने की इजाजत तक दे दी जिससे जमींदार 30 से 60 एकड़ तक की भूमि को अपनी जोत के भीतर ले सकें। केवल उत्तर प्रदेश ने ऐसा करने से हाथ खींच लिया था। अकेले महाराष्ट्र में 1948 के भूमि–सुधार कानून के बावजूद, भूस्वामियों ने इस मौके का लाभ उठाकर 17 लाख एकड़ भूमि किसानों से ही छीनकर अपने काबू में कर ली। सरकार को यह कदम यानी भूमि–सुधार की दिशा में किया गया श्रम क्या गरीब किसानों के हित की रक्षा करता है, अथवा चुनाव के समय पैदा तथा लाठी से कांग्रेस सरकार की सहायता करने वाले जमींदारों की सेना इकट्ठा करने में सहायता पहुंचाता है? देश के बुद्धिजीवयों को इस दिशा में सोचने की जरूरत हैं।

हरित क्रांति की योजना अधिक उत्पादन तथा कृषि–उत्कर्ष की दष्टि से की गई थी, किन्तु इसका प्रभाव भी उल्टा ही निकला। श्री लैंडजिन्स्की

1 यहाँ विशेषतः उल्लेखनीय बात यह है की उत्तर प्रदेश के क्रन्तिकारी भूमि सुधार कानून की प्रायः प्रत्येक शब्द, उसका विचार तथा उसकी परिकल्पना लेखक की है, इस कानून की रचना के दौरान मुझे विधान सभा के भीतर तथा बहार अपने साथियों तथा विरोधियों का प्रतिरोध भी सहन करना पाड़ा था. पर आज बड़े बड़े विशेषज्ञ यह मान चुके हैं की यह क्रन्तिकारी कानून था

द्वारा जुलाई–अगस्त 1969 में उत्तरी बिहार के दौरे के बाद लिखी गयी रिपोर्ट से मालूम होता है कि यहां भूमि–सुधार कानूनों की उपेक्षा की गई, कृषि मजदूरों और छोटे किसानों की आमदनी बड़े किसानों की समता में बहुत कम है, और वे नरक की ओर सरलता के साथ बढ़ रहे हैं। मेरा अपना विचार है कि भूमि–सुधार कानूनों के बारे में सरकार की घोषित नीति और कांग्रेस के नेतृत्व में बहुत फर्क है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण 1961–62 के 17वीं बार के अध्ययन से मिले आंकड़ों के साथ, अतिरिक्त भारतीय कृषि जनगणना 1970–71 से की जाये तो यह मालूम हो जायेगा कि भूमि–वितरण के तरीकों से छोटे वर्ग के लोगों की हानि और ऊँचे वर्ग के किसानों को लाभ पहुंचा है (विस्तार के लिए मेरी पुस्तक ''इकोनामिक नीटमेयर आफ इंडिया'' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित तालिका 42, 43, 44, 45 देखी जा सकती है)।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 17वें अध्ययन से मालूम होता है कि 1961–62 में कृषि योग्य जोतें 507 लाख थी, 1970–71 की जनगणना बतलाती है कि ये जोतें 705 लाख हो गई, यानी जमीन के ज्यादा टुकड़े हो गये। दूसरी ओर 1961–62 में 10 हेक्टेर से बड़े फार्मों की संख्य 23 लाख थी, वह 1970–71 में 28 लाख हो गई, यानी एक ओर तो अलाभकारी छोटी–छोटी जोतें बढ़ती गईं और दूसरी ओर बड़े–बड़े भू–स्वामियों के लाभकारी फार्म बढ़ते गये। भारतीय जनता को समाजवाद का ढोल पीटने वाले कांग्रेसी शासन के तीन दशकों की यह देन है। अफसोस यह है कि इस सवाल को लेकर प्रगतिशीलता और समाजवाद का नारा लगाने वाली विरोधी पार्टियों ने न तो कोई प्रदर्शन किया और न कोई आन्दोलन। यहां तक कि इस प्रश्न को विधान सभाओं तथा संसद में बहस का मुद्दा भी नहीं बनाया गया।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् 1959 में उत्तर प्रदेश के राजस्व विभाग में किसान–समर्थक नेतृत्व के बदलाव के बाद यहां भी सीमान्त तथा छोटे किसानों को चकबंदी के समय जोतों से बेदखल कर दिया गया। कांग्रेस सरकार की गलत नीतियों और सिद्धांत तथा व्यवहार में दोगलेपन के कारण देश में कृषि मजदूरों की संख्या बढ़ती गई। यह संख्या उत्तर प्रदेश में 1977–78 में 350 लाख हो गई थी।

उत्तर प्रदेश में मेरे द्वारा बनाये गये जमींदारी उन्मूलन कानून में विश्व बैंक रिपोर्ट किसी खामी का जिक्र नहीं करती। इस रिपोर्ट में चार प्रकार के कदम उठाने का सुझाव भी दिया गया है, जिसमें से तीसरा सुझाव है – जमींदारों को व्यक्तिगत खेती के लिए भूमि के वापिस किये जाने के अधिकार का उन्मूलन करना और चौथा है – काश्तकारों द्वारा छोड़ी गई

भूमि को नियमित करना। इस रिपोर्ट में एक चेतावनी भी दी गयी है और वह है – यदि उक्त सुझावों पर ध्यान नहीं दिया गया तो ग्रामीण क्षेत्रों में इतनी निर्धनता का फैलाव हो जायेगा कि उसको दूर किया जाना कठिन हो सकता है। इस चेतावनी की ओर सरकार का ध्यान गया अवश्य है, किन्तु उतना नहीं जितना जाना चाहिए था। इसका एक खास कारण यह है कि हमारे देश में राजनीतिक सत्ता, आमतौर पर उन लोगों के हाथ में रही है, जो या तो उच्च जमींदार तथा व्यापारी वर्ग से आये हैं अथवा उच्च शिक्षित वर्ग से। इन लोगों ने वैभवशाली वातावरण में आखें खोली हैं, वैभव में रहे हैं और सदैव सम्पन्नता का जीवन व्यतीत किया है। ये लोग बिल्कुल नहीं जानते कि गरीबी का दर्द क्या होता है, गरीबों के बच्चों को कितना सहना पड़ता है और ये लोग कितने दुःखी होते हैं?

मेरी बात का समर्थन, वुल्फ लैंडजिन्स्की द्वारा सातवें दशक में योजना आयोग को दिये गये सुझावों में होता है, जिनमें कहा गया है ''भारत में धनी और सम्पन्न फार्मों के लोगों के दल केन्द्र और राज्य सरकारों में कांग्रेस पार्टी की आन्तरकि परिषदों में अपना विशेष महत्व रखते हैं और यह महत्व चुनाव के दिनों में और भी बढ़ जाता है। ''मतदान'' बैंक उन्हीं लोगों के नियंत्रण में है।" अपने मत के समर्थन के लिए वह बताता है कि 1962–67 में पंजाब विधान सभा में 64 सदस्यों में से 45 सदस्य बड़े–बड़े भू–स्वामी थे। हरियाणा में 52 में से 30 और मध्य प्रदेश में 230 कांग्रेस विधायकों में 98 विधायक हैं जिनके पास अधिकतम जोत की निर्धारित सीमा से अधिक भूमि है। 1980 में निर्वाचित लोकसभा के 350 कांग्रेस सांसदों में से 80 सांसद राजकुमार अथवा बड़ी–बड़ी सम्पत्तियों के मालिक हैं। बिहार में बोध गया मठ से सम्बंधित श्री शंकराचार्य के पास राज्य के 31 जिलों में से 12 जिलों में बहुत अधिक भूमि है जिसको सन्यासियों, नौकरों, शिकारियों तथा लुटेरों, देवी–देवताओं के नाम दर्ज कर रखा है ताकि वह 1961 के अधिकतम भूमि अधिनियम से बच जाएं। बिहार सरकार आज तक ऐसे भू–स्वामियों की भूमि छीनकर भूमिहीन लोगों में बांटने में असफल रही है। इसी का परिणाम वहां मार–काट, लूट और नक्सलवादी आन्दोलन होता है। मेरी बात का प्रमाण ''टाइम्स आफ इंडिया'' (12 जनवरी 1981) में छपे एन. एस. सक्सेना के लेख से मिलता है। बिहार ही नहीं, धनी और वैभवशाली फार्मों का प्रभाव और अस्तित्व आन्ध्र प्रदेश, तमिल नाडु और पंजाब आदि में भी मिल जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि एक ओर तो भूमिहीन लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, दूसरी ओर भू–स्वामी वर्ग का खजाना फूलता जा रहा है जिसका इस्तेमाल वे राजनीतिक नेताओं तथा सरकारी अधिकारियों को खरीद

कर हमारे लोकतंत्र को खोखला बनाने में करते हैं। साम्प्रदायिक झगड़ों, नक्सलवादी मार–काट और चोरी–डकैती के बीज बोने में इन लोगों का हाथ, एक बहुत बड़ी सीमा तक, होता है। इससे बचने का एक तरीका भूमि का पुनर्वितरण है।

भूमि का पुनर्वितरण

कांग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में सहकारी खेती और आबादी अधिवेशन में समाजवादी समाज की स्थापना के पक्ष में निर्णय लिये थे, सहकारी खेती के पक्ष में निर्णय का उद्देश्य साम्यवादी राष्ट्रों का अंधानुकरण करना था और दूसरे का उद्देश्य सच्चे लोकतंत्र अथवा आर्थिक समाजता के लिए संघर्ष करती जनता को भुलावे में डालना था और इस प्रकार अन्य राजनीतिक दलों को प्रभावहीन बनाकर राजनीतिक लाभ उठाना था। ये दोनों निश्चय ही नारे अधिक थे, वास्तविकता कम।

यदि कांग्रेस पार्टी इस लक्ष्य के प्रति गम्भीरता के साथ प्रतिबद्ध होती, यदि उसका उद्देश्य देश में सच्चे समाजवाद का लाना होता, यदि वह महात्मा गांधी तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य बलिदानी वीरों की भावना का मान करती, उनकी कल्पना के भारत का निर्माण करने की दिशा में प्रतिबद्ध होती तो अपने शासन के तीन दशकों में इस उद्देश्य को पूरा करने से उसे कौन रोक सकता था? सच्चाई यह है कि दुनिया के कई देश ऐसे हैं जिनको राजनीतिक स्वाधीनता भारत के बाद मिली है, किन्तु समाजवाद, आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता की दृष्टि से वे भारत से बहुत आगे हैं। इसका एक ही कारण है कि उन देशों का राजनीतिक नेतृत्व कर्मठ, निष्ठावान तथा नीचे के तबके से आये व्यक्तियों के हाथ में रहा। भारत का यह दुर्भाग्य है कि यहां नेतृत्व ऊँचे वर्ग के हाथों में रहा। और यह पूजीपतियों व बड़े जमींदारों से पूरी तरह प्रभावित होता रहा है। इस बात का एक सबूत यह है कि सातवें दशक तक आते–आते इस देश में खेतिहरों की संख्या 51.10 से घटकर 43.34 प्रतिशत तक आ गई। इसका सीधा सा मतलब यह है कि खेतिहरों से जमीन छीन ली गई और वे खेतों पर मजदूरी करने के लिए मजबूर हो गये। दूसरी ओर 90 हेक्टेयर से अधिक रकबा वाले फार्म 1961–62 में 23 लाख थे, वे 1970–71 में 28 लाख हो गये। 1961–62 में बड़े फार्मों के पास कुल 387 लाख हेक्टेयर अर्थात 28.9 प्रतिशत जमीन थी, वह 1970–71 में 500 लाख हेक्टेयर अर्थात 30.8 प्रतिशत हो गई। भारत की गरीब जनता की भलाई का ढोल पीटने वाली कांग्रेस सरकार की भारत के गरीबों को यह देन है। कांग्रेस सरकार की नीति का परिणाम है कि आज देश में अरबपति घराने 67 हो

गये हैं और 20 प्रतिशत जनता के पास 700,00 की सम्पत्ति है। अंग्रेज जब भारत में आये थे तो इस देश में 36 प्रतिशत लोग गरीब थे और इस समय 60 प्रतिशत गरीब हैं। ये आंकड़े बताते हैं कि कांग्रेस सरकार ने देश की गरीबी मिटाई नहीं, वरन बढ़ाई है

यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि बड़े फार्मों से गरीबों का नहीं, बड़ों का भला होता है। महंतों और मठाधीशों के फार्मों पर जनता तथा मजदूर नहीं पलते, वहां लठैत पलते हैं और वे अपनी ज्यादतियों से नक्सलवाद के विकास के लिए अनुकूल भूमि तैयार करते हैं। अफसोस इस बात का है कि कांग्रेस के कर्णधारों की समझ में छोटी–सी यह बात नहीं आती।

श्री पी. एस. अप्पू कृषि और भूमि–सुधार आयुक्त एवं संयुक्त सचिव ने अप्रैल 1971 में ''सीलिंग आन लार्ज होल्डिंग'' नामक अपनी रिपोर्ट में छोटी जोतों का समर्थन किया है। छोटी जोतों के समर्थन में उनके दो तर्क हैं–पहला, इनमें कुल मिलाकर अधिक पैदावार होती है और दूसरा, अधिक तादाद में मिलने वाली मानव–शक्ति का इस्तेमाल होता है। लेकिन सत्तारूढ़ कांग्रेस ने न केवल श्री अप्पू के मत की उपेक्षा की वरन राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की शिक्षा की ओर से भी कान फेर लिये। फल यह हुआ कि पंजाब और हरियाणा में स्वामित्व के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गयी, उड़ीसा तथा मणिपुर में अधिकतम सीमा के लिए जो कानून बना वह लागू न हो सका। मैसूर, केरल तथा उड़ीसा में अधिकतम भूमि की सीमा के बावजूद पुनर्वितरण के लिए एक एकड़ जमीन भी नहीं मिलीय आन्ध्र प्रदेश में 1,400 एकड़ भूमि मिली पर उसमें से एक एकड़ा का भी वितरण नहीं हुआ। चौथी पंचवर्षीय योजना में पुनर्वितरण करने का दावा किया गया है, लेकिन देखना यह है कि दावे तथा दायरे में कितना फर्क है? कांग्रेस सरकार द्वारा किये गये दावे उसी प्रकार अधूरे रह जायेंगे जिस प्रकार भारत में समाजवादी समता तथा लोकतंत्र स्थापित करने के दावे रह गये हैं।

मेरी समझ में 27.5 एकड़ से अधिक और 2.5 एकड़ से कम भूमि का सही उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए एक परिवार के लिए जोत उतनी होनी चाहिए जितनी पारिवारिक खेती की परिस्थितियों में लाभकारी हो सके। इंस्टिटयूट आफ इकोनामिक ग्रोथ, दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व निदेशक प्रो. ए. एम. खुसरू भी 3 से 4 हेक्टेयर पर यानी 7.5 से 10.00 एकड़ भूमि प्रति इकाई मंजूर करते हैं। सरकार पिछले 25 वर्षों से भूमि के पुनर्वितरण की बातें कर रही है और चुनाव के समय ये बातें और भी तेज हो जाती हैं, पर अभी तक इस ओर काम शुरू नहीं हुआ है। यदि कुछ हुआ भी है तो वह अनुपयोगी तथा अधकचरा।

''टाइम्स आफ इंडिया'' ने 5 नवम्बर 1973 को एक समाचार प्रकाशित किया था जिसमें कहा गया था कि मुख्यमंत्री श्री एच. एन. बहुगुणा के अनुसार फरवरी के अंत तक उत्तर प्रदेश में 5.2 लाख भूमिहीन श्रमिकों को लगभग 2.5 लाख हेक्टेयर अतिरिक्त भूमि बांटी जायेगी। यह भूमि राज्य के 8,900 ग्रामों में उपलब्ध है। आवंटियों को एक जोड़ी बैल, बीज और अन्य सुविधाएं दी जायंगी। इसके बाद 30 जून 1976 को राजस्व मंत्री श्री वीर बहादुर सिंह ने घोषणा की थी कि लगभग 18.07 लाख एकड़ भूमि उत्तर प्रदेश के 19–20 लाख भूमिहीनों में 20 सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत अब तक बांटी जा चुकी है। इस वितरण से आवंटन का रकबा और भी घट गया अर्थात प्रति आवंटी को 1.2 एकड़ से कम 0.7 एकड़ भूमि आवंटित की गई। मेरी समझ में भूमि के इस पुनर्वितरण से कांग्रेस पार्टी का प्रचार तो हो सकता है, किन्तु न तो आवंटी का हित हो सकेगा और न देश में खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ेगा। इस तरह की कार्यवाही के कारण ही अधिकतम भूमि सीमा के लिए सन् 1972–73 में बनाये गये कानून एक तमाशा बनकर रह गये।

भारत के नेतृत्व ने यदि 15 अगस्त 1947 के तुरन्त बाद ही 10 या 25 एकड़ से अधिक भूमि वाली जोतों को अपने अधिकार में ले लिया होता और उसको फिर से इसी बुनियाद पर बांटा गया होता तो भूमिहीन जनता तथा देश दोनों को निश्चित लाभ हुआ होता। इसके बाद, हमें न तो उतनी बेरोजगारी का सामना करना पड़ता और न इतना धन विदेशों से खाद्यान्न मंगाने पर खर्च करना पड़ता।

जिस प्रकार भूमि के फिर से बंटवारे के विषय में उत्तर प्रदेश की सरकार ने जल्दबाजी में केवल प्रचारात्मक निर्णय लिया था, उसी प्रकार एक अविवेकपूर्ण निर्णय उप–पहाड़ी–तराई क्षेत्र में जंगल काटकर बस्तियां बसाने का लिया गया। जंगल कट जाने से बाढ़ अधिक आई, भूमि का कटाव अधिक हुआ, उपजाऊ मिट्टी बह गयी और जनता पर विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े।

निष्कर्ष यह है कि कांग्रेस के अधिकांश निर्णय केवल अपनी पार्टी या पार्टी–नेता के प्रचार के लिए होते हैं, दिखावे के लिए होते हैं, जनता की बहबूदियों के लिए नहीं होते।

चंकबदी

मोटे तौर पर, चकबंदी से यह समझा जाता रहा है कि किसानों के बिखरे हुए खेतों को दो–तीन चकों में इकट्ठा कर दिया जाए ताकि उनको कुछ सुविधाएं प्राप्त हो जायें – लेकिन चकबंदी का उद्देश्य इससे कुछ अधिक है।

आम तौर पर देखा जाता है कि बिहार, उड़ीसा तथा आन्ध्र प्रदेश की तरह, कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश में भी किसानों की जोतें 10 से लेकर 20 स्थानों तक फैली हुई थीं इसलिए उसके सामने बड़ी विकट समस्याएं रहती थीं कि किस प्रकार फसलों की रखवाली की जाए, किस तरह बिखरे हुए खेतों की सिंचाई की जाए और किस प्रकार गांव के एक कोने से दूसरे कोने तक अपने बैलों को दौड़ाया जाए। चकबंदी होने के बाद केवल ये परेशानियां ही दूर नहीं हुई, पैदावार भी बढ़ी। अगर सरकार ने बाहर से खाद्यान्न मंगाने की नीति को न अपना कर खेती की उन्नति का रास्ता अपनाया होता तो पिछले कुछ वर्षों में बाहर से आयात 64.5 लाख टन खाद्यान्न न मंगाना पड़ता और इस पर खर्च किया जाने वाला धन किसानों को सहायता के रूप में दिया गया होता, तो निश्चित है कि न केवल भारतीयों के लिए पर्याप्त खाद्यान्न ही मिलता बल्कि भारत खाद्यान्न का निर्यात करने में भी सफल होता और इस सफलता से पर्याप्त विदेशी मुद्रा भी अर्जित करता और दूसरे अनेक देशों में अपनी साख भी बना लेता। कम से कम गरीब मुल्क कहलाने के अभिशाप से तो बच ही जाता।

चकबंदी का सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि किसान तथा सरकार के बीच सीधे सम्बंध की स्थापना हो गई, दोनों क बीच में वर्तमान जमींदार, जो प्रायः प्रति तीसरे वर्ष लगान–वृद्धि से, जोतदारों को परेशान किया करता था, मिट गया और जोतदार लगान–वृद्धि की विपत्ति से, एक बहुत बड़ी सीमा तक, छटकारा पा गया। दूसरे, बीस से पच्चीस जगह तक फैले उसके खेत, दो या तीन चकों के रूप में संगठित हो गये। जिन पर नलकूप लगाकर सिंचाई की सुविधा हो गई, अपने चकों पर रहने तथा पशु बांधने का इंतजाम होने से फसल की रखवाली की समस्या हल हो गई, पानी के बंटवारे के सवाल पर होने वाले झगड़े खत्म हो गये, हदबंदी के सवाल पर होने वाली मुकदमेबाजी मिट गई, जरूरत से अधिक पानी के निकासी का इंतजाम हो गया, एक कोने से दूसरे कोने तक आने–जाने में होने वाली पशु तथा आदमियों की परेशानियां मिट गईं, मानव–श्रम की बचत हो गई, कृषि उपकरणों को इकट्ठा करके रखने की सुविधा हो गई, पैदावार – अन्न, भूसा, चारा, उपले तथा कोल्हू आदि आखों के सामने सुरक्षित हो गये और अन्ततः कृषि उत्पाद के तीनों कारकों – भूमि, पूंजी तथा श्रम – की उत्पादकता बढ़ गई। इस तरह, उत्तर प्रदेश के किसानों के लिए चकबंदी एक वरदान के रूप में सामने आई। सब लोग जानते हैं कि उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन कानून के निर्माण में इन पंक्तियों के लेखक का ही एकमात्र हाथ है। उसकी सम्पूर्ण कल्पना तथा शब्दावली लेखक की अपनी है।

उत्तर प्रदेश की चकबंदी का नतीजा यह निकला कि सन 1962 तक प्रदेश की 1,62,63,809 खेतों के 28,27,940 तक चक बना दिये गये और एक चक में औसतन 5.75 खेत शामिल हो गये। इसका एक उदाहरण काफी होगा। एक किसान परिवार के पास औसतन 25 खेत थे, जिनका क्षेत्रफल 300 एकड़ था। इसका अर्थ यह है कि एक छोटे खेत का औसत रकबा 4 बिस्वा यानी 600 वर्ग गज के आस–पास था। चकबंदी के बाद एक परिवार के अधिकार वाले 25 खेतों को दो चकों में बदल दिया गया।

मालकोम डार्लिग का कहना है कि ''चकबंदी के लाभकारी परिणामों को गिनाना आसान है लेकिन उन्हें कार्यरूप में परिणत करना कठिन है।'' मेरे मंत्रित्वकाल में, उत्तर प्रदेश में चंकबंदी के समस्त लाभ किसानों को मिले और कठिन काम आसान बन गया।

श्री लैंडजिन्स्की द्वारा ''फोर्ड फाउण्डेशन'' में दी गयी अपनी रिपोर्ट में उत्तर प्रदेश की चकबंदी योजना की सराहना की गयी है। लेकिन देश का दुर्भाग्य है कि इस देश के आधे राज्यों ने ही चकबंदी कानून बनाये हैं। आन्ध्र प्रदेश, जम्मू–कश्मीर, आसाम, केरल, उड़ीसा, तमिल नाडु और पश्चिम बंगाल का किसान अभी तक इस लाभ को नहीं उठा पाया। अनुमान है कि देश में 450 लाख हेक्टेयर से अधिक भूमि की चकबंदी नहीं हुई। इस योजना का अधिकांश लाभ पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र ने उठाया है और आंशिक लाभ बिहार तथा गुजरात ने। नीचे की तालिका से, इस कार्य की प्रगति का पता लगता है।

तालिका 53

भारत में विभिन्न राज्यों में चकबंदी किये गये क्षेत्रफल का विवरण

(लाख हेक्टेयर में क्षेत्रफल)

क्र0सं0	राज्य	पहली योजना से पूर्व	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	तीन वार्शिक योजनाएं	चौथी योजना	1974–75 से 1977–78
1.	आन्ध्र प्रदेश	–	–	1.25	2.06	–	–	–
2.	आसाम	–	–	–	–	–	–	–
3.	बिहार	–	0.16	0.60	0.83	0.22	0.27	3.57
4.	गुजरात	–	0.43	0.65	0.15	0.78	3.98	4.17
5.	हरियाणा	–	–	–	–	1.59	1.27	–
6.	जम्मू–कश्मीर	–	–	–	0.22	–	–	–
7.	मध्य प्रदेश	9.77	1.73	3.59	8.02	3.28	7.95	–
8.	महाराष्ट्र	–	1.09	3.55	16.69	21.22	53.35	30.97
9.	कर्नाटक	0.86	1.09	2.88	3.60	2.40	–	–
10.	उड़ीसा	–	–	–	–	–	–	–
11.	पंजाब	–	24.72	34.19	31.29	–	–	–
12.	राजस्थान	–	–	5.60	11.27	0.25	–	–
13.	उत्तर प्रदेश	–	0.76	21.06	45.61	21.53	26.38	19.14
14.	पश्चिम बंगाल	–	–	–	–	–	–	–
15.	हिमाचल प्रदेश	–	9.16	0.49	0.80	अनुपलब्ध	0.40	अनुपलब्ध
	जोड़	**10.63**	**31.00**	**73.86**	**121.54**	**51.27**	**93.64**	**57.96**

निष्कर्ष यह है कि कांग्रेस सरकार की शिथिलता और किसानों के प्रति उपेक्षा आदि का परिणाम है कि भारत का किसान एक बड़ी लाभकारी योजना से वंचित रह गया है। यदि मैदानों की सभी कृषि योग्य भूमि की चकबंदी करा दी गई होती, किसानों के नये बने चकों की सिंचाई के लिए नलकूप बनवा दिये गये होते या पक्के कुए बनाकर रहट लगा दिये गये होते, पशुओं के गोबर आदि का कम्पोस्ट खाद बनाने की विधि से किसानों को प्रशिक्षित कर दिया गया होता तो निश्चत ही भारत को खाद्यान्न मंगाने के लिए विदेशों को बहुत बड़ी रकम न चुकानी पड़ती। इस समस्त योजना पर सरकार को अनुमानतः इतना खर्च न करना पड़ता जितना वह बाहर से अन्न मंगाने पर कर रही है। यह सिर्फ इसलिए नहीं हुआ कि कांग्रेस सरकार केवल किसान तथा मजदूरों के हितों की रक्षा का नारा लगाती है और काम वह करती है जिससे अमेरिका तथा अन्य देशों के पूंजीपतियों को लाभ हो। विदेशों से अन्न तथा स्टील मंगाने के पीछे यही नीति है। अपने शासन के लगभग चार दशकों में, उसने जितना लाभ देश के बड़े पूंजीपतियों अथवा बड़े–बड़े भू–स्वामियों को पहुंचाया है, उतना गरीब किसान तथा मजदूरों को नहीं। यह इसलिए हुआ कि सरकार में कोई प्रभावशाली व्यक्ति किसानों तथा मजदूरों का पक्षधर नेता नहीं है।

सेवा सहकारी समितियां

चकबंदी से किसानों को बहुत–से लाभ हैं, लेकिन चकबंदी न तो भूमि का रकबा बढ़ा सकती है और न सीमांत अथवा लाभकारी जोतों की समस्याओं को हल कर सकती है। इन समस्याओं का समाधान केवल सेवा–सहकारी–समितियों के जरिये हो सकता है। इस योजना के अनुसार, भूमि की स्वतंत्र इकाइयों का भूमि के मालिक किसान की स्वेच्छा से सहकारी समितियों में समाहार कर दिया जाएं। इसे हम बड़ी मशीनों से चलाये जाने वाले बड़े फार्मों के परिणामस्वरूप पैदा हुई बेरोजगारी से भी बच जायेंगे, भूमि के स्वामित्व हरण से उत्पन्न किसान की उपेक्षा वृत्ति से भी बच निलेंगे, खेतिहर मजदूर बढ़ाने की नीति से भी दूर रहेंगे और अलाभकारी राष्ट्रीयकरण के खेतरे से भी मुक्त रहेंगे।

इस योजना के द्वारा, किसानों को औद्योगिक सभ्यता के दुष्परिणामों से बचाया जा सकता है, यानी महाजनी नीति के शोषण से मुक्त रखा जा सकता है। निजी सम्पत्ति की सभी सुविधाओं तथा तकनीकी लाभों को उसके हितों के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है, एक सीमा तक निजी सम्पत्ति–रक्षा के प्रोत्साहन से लाभान्वित किया जा सकता है और उनको सहयोग तथा सहकारिता के लाभों में रुचि लेना सिखाया जा सकता है।

सहकारिता का अर्थ केवल जोतों को मिलाकर एक करना और किसानों को जोत की मिल्कियत से वंचित करना नहीं है।

'होरेस प्लनकैट फाउण्डेशन' के अध्यक्ष डा. सी. आर. फे ने 1943 में ''इयर बुक आफ एग्रीकल्चर को–आपरेटिव'' में उत्तरी योरोप के अपने अनुभव के आधार पर एक महत्वपूण बात कही है। वह कहता है कि परिवार को खेती के लिए ज्यादा से ज्यादा तकनीकी ज्ञान उलब्ध कराना बड़ा आवश्यक है और यह ऐसी हालत में होना चाहिए कि भूमि इकाई राजकीय संरक्षण का विषय बन जाए और व्यक्तिगत परिवार के प्रयत्नों को खरीदा तथा बिक्री के सामूहिक प्रयत्न के साथ जोड़ा जा सके।

बात बड़ी साफ है कि सहकारिता का उद्देश्य होना चाहिए हमारे देश में फैली आर्थिक अराजकता से किसानों को बचाना, दूसरी ओर साम्यवादी देशों के अंधानुकरण पर सामूहिक खेती के दुष्परिणामों से उनकी मुक्ति और तीसरी ओर जापान तथा पश्चिमी योरोप की कृषि–प्रणाली को अपनाने के लिए किसानों को प्रेरित करना, ताकि खेत और किसान की पहचान बनी रहे और प्रति एकड़ उत्पादन भी बढ़ जाए। लोकतंत्र की यही सच्ची प्रणाली हो सकती है। लोकतंत्र की धीमी प्रगति से ऊबकर, कुछ लोग सामूहिक खेती की वकालत तो करते हैं, किन्तु उसकी वकालत से ही सहज में ही लोकतंत्र की हत्या भी हो जाती है।

सहकारी समितियों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनका गठन लोगों की उत्कट इच्छा के फलस्वरूप किया गया हो, उनसे लोगों की आम आवश्यकताओं के सहज हल निकलते हों, उनको कृषि सम्बंधी तकनीकी ज्ञान कराने का वे माध्यम बनती हों, बाजार में होने वाले शोषण से किसानों को बचाती हों, फसल के मौसम में उनकी पैदावार के उचित मूल्य दिलाने की व्यवस्था करती हों, आवश्यकता के समय किसानों को अग्रिम मूल्य चुकाने में समर्थ हों और इन समितियों के गठन को सफल बनाने की मानसिकता लोगों में पैदा करती हों अर्थात लोकतंत्र के निर्माण की दिशा में ये समितियां महत्वपूर्ण योग दे सकती हैं।

इन सहकारी समियों को सरकार का सहयोग प्राप्त हो, तो वे भारत के देहात में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना में योग दे सकती हैं। ये समितियां किसानों को व्यापारी–वर्ग के शोषण से बचाकर, उनके कृषि–उत्पादन ही नहीं, वरन लघु उद्योगों के उत्पादन का उचित मूल्य दिलाने में समर्थ हो सकती हैं।

समाप्त

चौधरी चरण सिंह, १९८१

(बाएं से) श्री मधु दंडवते, श्री अटल बिहारी वाजपई, बाबू जगजीवन राम,
चौधरी चरण सिंह, श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी। दिल्ली, १६८२

चौधरी चरण सिंह विशाल जान सभा को सम्बोधित करते हुए. १६८३

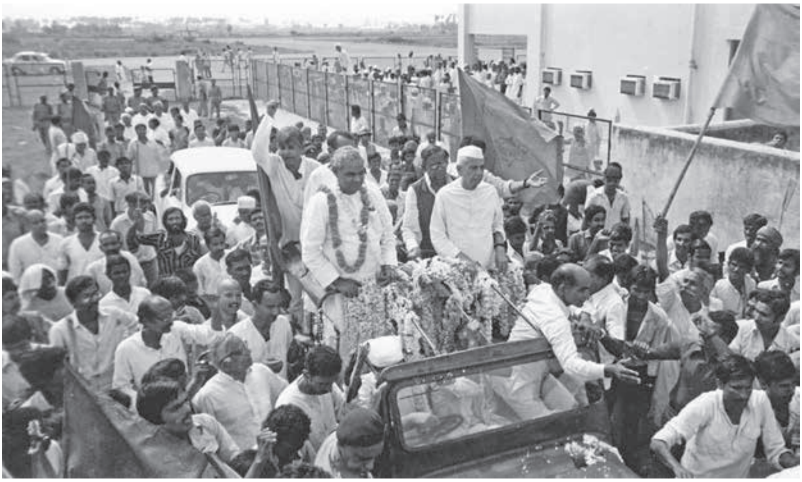

जीप में खड़े श्री अटल बिहारी वाजपेयी के साथ चौधरी चरण सिंह.
पीछे श्री लालू यादव. बिहार, १६८३

(सामने बैठे, दाएं से) श्री कृष्ण चंद्र त्यागी, श्री जय प्रकाश नारायण यादव,
श्री गजेंद्र प्रसाद हिमांशु (पीछे बैठे, दाएं से) श्री राम नरेश यादव, श्री रबी राय,
श्री कर्पूरी ठाकुर, चौधरी चरण सिंह. दिल्ली, १६८३

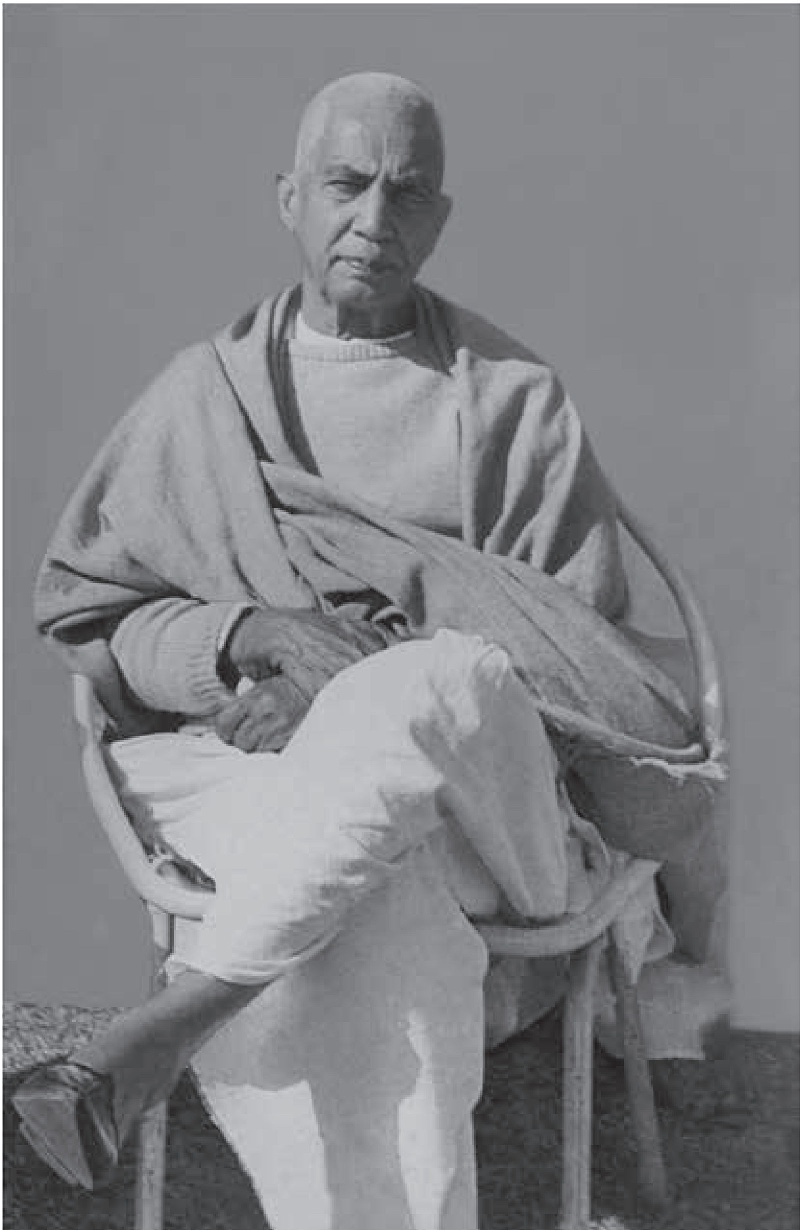

चौधरी चरण सिंह, १२ तुगलक रोड, दिल्ली, १६८२

चौधरी चरण सिंह ने इस पुस्तिका को १९८४ लोक सभा चुनावों से पूर्व लिखा तथा किसान ट्रस्ट के तत्कालीन मैनेजिंग ट्रस्टी स्वर्गीय अजय सिंह ने इसे प्रकाशित करी। पढ़ने के पश्चात आपको स्वयं एहसास होगा की हिंदुस्तान में गिने चुने राजनेता ही इतनी गहरी सोच रखते थे – या हैं। यह पुस्तिका चौधरी साहब के ५० वर्षों के चिंतन को दर्शाती है। हमारी आशा है इस के सहारे पाठक चौधरी साहब की नजर से आजाद हिंदुस्तान की योजनाओं के औचित्य को एक नए दृष्टिकोण से देख सकेंगे और भारत की आर्थिक विकास की सही दिशा जान सकेगा।

Charan Singh Archives
www.charansingh.org

ISBN 978-81-958021-0-4
Price ₹१९९